विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
दक्षिण भारत के शासकों के अभिलेख
राजेन्द्र कुमार वर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4
प्राचीन नाट्य परंपरा और रंगशाला
भरत पाठक

पृष्ठ क्र. 5-6
वराहमिहिर की बृहत्संहिता और ज्योतिष
जयकिशोर शास्त्री

पृष्ठ क्र. 7
सभ्यता को सुदृढ़ करने वाले शिल्पकार
एकनाथ कानिटकर

पृष्ठ क्र. 8
सार्थवाह प्राचीन भारत की पथ-पद्धति
मिथिलेश यादव

दक्षिण भारत के शासकों के अभिलेख

राजेन्द्र कुमार वर्मा

पहली से आठवीं शती के बीच प्राकृत एवं संस्कृत के बहुसंख्य अभिलेख हैं। शक एवं सातवाहन राजाओं के अभिलेखों में साहित्यिक प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण प्राप्त होता है। सातवाहन राजाओं के अभिलेखों में यत्र–तत्र संस्कृत का स्वतंत्र प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। अभिलेखों में स्थानीय सुविधा तथा प्रचलन के अनुसार क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग दक्षिण भारत में प्रारम्भ हुआ। आन्ध्र प्रदेश में तेलगू भाषा में अभिलेख छठी शताब्दी से लिखे जाने लगे तथा लगभग इसी समय कन्नड़ भाषा में अभिलेख मैसूर क्षेत्र से पाए गए। इस तरह भाषागत विविधता धीरे–धीरे अभिलेखों को समृद्ध करती गई। गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच में रहनेवाले लोगों को 'आन्ध' कहा गया है। प्राचीन काल में आन्ध्र के लोग अशोक के राजनीतिक प्रभाव में थे। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद यह क्षेत्र स्वतंत्र हो गया। सातवाहन शासक अभिलेखों में अपने को 'सातवाहन' या 'शतकर्णि' कहते हैं। साहित्य में यदा–कदा इस वंश के लिए 'शालिवाहन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। अधिकतर विद्वान महाराष्ट्र को सातवाहनों का मूल स्थान मानते हैं, क्योंकि उनके बहुसंख्य अभिलेख वहीं से मिले हैं।

सातवाहनों का अभ्युदय प्रतिष्ठान (पश्चिमी) दक्कन के आसपास हुआ। वहीं से उनका साम्राज्य सभी दिशाओं में फैला। सिमुक सातवाहन वंश का संस्थापक था। वह जैन तथा बौद्ध धर्म का संरक्षक भी था। इस वंश के प्रमुख शासकों में शातकर्णि प्रथम, गौतमी पुत्र शातकर्णि, वासिष्ठी–पुत्र पुलुमावि तथा यजश्री शातकर्णि उल्लेखनीय हैं। चतुर्थ पुलुमावि को इस वंश का सबसे अन्तिम राजा कहा गया है। ईसा की तीसरी शती आते–आते यह साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पल्लव राजवंश का इतिहास सिंहविष्णु के समय अधिक सुनिश्चित होता है। इस राज्य के अनेक अभिलेख मिले हैं जिनके अनुसार पल्लव राज्य के अन्तर्गत केवल काँची की नहीं वरन् तेलगू और कन्नड़ जिलों के बड़े भाग सम्मिलित किए गए थे। सिंहविष्णु का उत्तराधिकारी उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम था। जिसके शासनकाल में पल्लवों और वातापी के चालुक्यों में दक्षिण भारत के आधिपत्य के लिए भीषण संघर्ष की जानकारी मिलती है। छठी शती में कन्नड़ बोलनेवाले प्रदेश में चालुक्य शक्तिशाली हुए तथा उनकी राजधानी बम्बई राज्य के बीजापुर जिले की वातापी या आधुनिक बादामी में थी। इस वंश का संस्थापक पुलकेशिन प्रथम माना जाता है। कालान्तर में इसके पुत्र कीर्तिमान प्रथम और भाई मंगलेश ने साम्राज्य को प्रत्येक दिशा में फैलाया। कीर्तिवर्मन का पुत्र पुलकेशिन द्वितीय इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ। इसने 609–642 ई. तक सम्पूर्ण दक्कन को जीतकर एक विशाल साम्राज्य में परिणत कर दिया। इस सन्दर्भ में पुलकेशिन द्वितीय का एहोल अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छठी शताब्दी का महाराष्ट्र से प्राप्त ध्रुवसेन प्रथम का गौतमच्छेल ताम्रपट्टाभिलेख में 'सीता' भूमि दान में देने का उल्लेख है। छठी शती में कर्णाटक के धारवाड़ जिले से प्राप्त एक महत्वपूर्ण अभिलेख भूमि के एक अन्य प्रकार पुक्कोली खजाना या खज्जान का उल्लेख करता है। तटीय प्रदेशों में तटबन्ध बनाए जाने पर, जो अतिरिक्त भूमि प्राप्त होती, उसे पुक्कोली खजाना कहा जाता था। पुक्कोली खजाना शब्द पर समकालीन विद्वानों ने भी प्रकाश डाला है, यथा दीपक आर. दास पुक्कोली खज्जान को दक्कन प्रदेश में भू सुधार से प्राप्त कृषि योग्य भूमि मानते हैं अर्थात् यह भूमि, भू–सुधार का एक प्रकार थी। पाँचवीं शती के चितलदुर्ग (कर्णाटक) से प्राप्त रविवर्मन के देवनगर ताम्रपट्ट में परती भूमि के रूप में केदार शब्द का प्रयोग मिलता है, जबकि इसी कालावधि में प्राप्त कदम्ब राजा मान्धातृवर्मन के ताम्रपट्ट में कृषि के लिए उपयुक्त भूमि को 'केदार' कहा गया है। पाँचवीं शती में कर्णाटक से मिले कुछ अभिलेखों से यह

जानकारी मिलती है कि कभी–कभी राजा कृषि योग्य भूमि के साथ–साथ गृह स्थान के लिए वास (वास्तु) भूमि भी दान किया करते थे। प्राचीन अभिलेखों में प्रायः राजा को पशुधन के अतिरिक्त, हिरण्य और भूमि का दान देने वाला कहा गया है। भूमि दान का सम्बन्ध भू–स्वामित्व से जुड़ा हुआ है और भूमि दान का सबसे प्राचीन पुरालेखीय प्रमाण ई.पू. प्रथम शताब्दी के एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है जिसमें अश्वमेध यज्ञ में एक गाँव के दान की चर्चा है। वासिष्ठी–पुत्र पुलुमावि के दान–पत्र (पहली शती, महाराष्ट्र) एवं नहपानकालीन नासिक गुहा अभिलेख (पहली शती, महाराष्ट्र) में उल्लेख है कि दान में दिए हुए गाँव में कोई सरकारी अधिकारी प्रवेश नहीं करेगा, उनमें से कोई नमक नहीं खोदेगा, स्थानीय सेना उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगी, अर्थात् उन भिक्षुओं को दान की गई भूमि में राज–सेना का प्रवेश वर्जित थाय राज्याधिकारी वहाँ के जीवन क्रम में कोई विघ्न नहीं डाल सकते थे। इन्द्रवर्मन का कोन्दनगर अनुदानपत्र (सातवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) एवं नरेन्द्रधवलकालीन मद्रास संग्रहालय ताम्रपट्ट (आठवीं शती, उड़ीसा) और पल्लव राजा गोपालदेव के हल्दीपुर ताम्रपट्ट (आठवीं शती. महाराष्ट्र) से भूमिदान के समय साक्षी की उपस्थिति की अनिवार्यता का पता चलता है।

धार्मिक उद्देश्य के अतिरिक्त भूमि सुधार के लिए भी राजा भू–दान हेतु प्रेरित किए जाते क्योंकि इसमें राज्य की समृद्धि निहित होती थी। इस प्रसंग में ध्यातव्य है प्रवरसेन द्वितीय के चम्पक अभिलेख (पाँचवीं शती, महाराष्ट्र) 19 का उल्लेख जिसमें राजा ने 8000 इकाइयों की चर्माणक गाँव को 1000 ब्राह्मणों को दान में दे दिया। सातवीं शती के भू–दान पत्रों से यह ज्ञात होता है कि आन्ध्रप्रदेश के भू–भागों में एक साथ कई हिस्सों में भूमि का दान किया जाता था। अतः दान की गई भूमि में हिस्सेदारी की सूची इन अभिलेखों से प्राप्त होती है, यथा–विक्रमादित्य प्रथम (आन्ध्र प्रदेश), इन्द्रवर्मन का कोन्दगुरु ताम्रपट (आन्ध्र प्रदेश) तथा नि द्वितीय का कोकी ताम्रपट्ट (आन्ध्र प्रदेश)। पल्लव राजा कुमार विष्णु के वालुर अनुदान पत्र (पाँचवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) में चेन्दातुर गाँव में खास भूमि (राज वास्तु के 800 पट्टिकों) का वर्णन है। यहाँ सम्पूर्ण गाँव या इसके किसी हिस्से को दान देने की स्थिति में राजा के बदले दानग्रहीता को राजस्व देने को कहा गया है। नेल्लौर–गुण्टर क्षेत्र के स्कन्दवर्मन द्वितीय के पुत्र पल्लवसिंह वर्मन के विलावती अनुदानपत्र (पाँचवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) में चर्चा है कि विलायती गाँव के सभी निवासियों द्वारा अब ब्राह्मण विष्णुशर्मन की सभी करों सहित दान देना पड़ेगा। इस विवरण का मुख्य आकर्षण राजा के इस अनुदेश में है– इस गाँव में धातुकर्मियों और चमड़े के काम करनेवाला (लोह–चर्मकार), वस्त्र विक्रेता व दुकानदार (आपण–पट्टकार), रस्सी पर करतब दिखानेवाले बाजीगर और नर्तक (रज्जुपतिहार) आजीविका द्वारा चुकाए जानेवाले कर, असभ्यों एवं जाति–बहिष्कृत (नहाल) सुखा लगाकर अभिनय करनेवाले (मुखधारक), पानी देखकर सगुन बतानेवाले (कूपदर्शन), बुनकर (ग) द्वारा चुकाए जानेवाला कर जुआ (घृत), विवाह, नाई (नाति) पर लगनेवाले कर (सर्वपरिहार) प्राप्त दस्तकार और ऐसे अन्य सभी कर जी मुझे (राजा को) प्राप्त होते थे अब इस ब्राह्मण विष्णुशर्मन को ब्रह्मदेव के रूप में दिए जाएँगे। जो भी मेरे इस आदेश का उल्लंघन करेगा, वह दंड का भागी होगा। इस तरह पाँचवीं शती में भू–स्वामित्व का हस्तान्तरण होने का प्रमाण प्राप्त होता है।

प्रवरसेन द्वितीय का चम्पक ताम्रलेख (पाँचवीं शती महाराष्ट्र) एक रोचक विवरण देता है कि राज्य अपने पास ग्रामवासियों के कुछ अधिकार दानग्रहीता के विरुद्ध सुरक्षित रखता था। इसके अनुसार दानग्रहीता राज्य के बाहर अपने साथ पशुधन नहीं ले जा सकता था। कृषि के लिए पशुधन को उपयोगिता को ध्यान में रखने पर भूमि दान महत्वपूर्ण हो जाता है। पशुधन खेतों में सकारात्मक भूमिका निभाता है। भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप अनुदत्त क्षेत्रों में शान्ति–सुव्यवस्था कायम रखने में सहायता मिलती थी, क्योंकि एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार हुआ। नासिक के इन क्षेत्रों में इसका दायित्व दानग्रहीताओं को दिया जाता था। भूमि अनुदानों का एक अभिलेख में भृगुदास नामक व्यक्ति द्वारा भूमिदान की चर्चा है। उसी स्थान के एक दूसरे अभिलेख में उषवदात द्वारा भूमिदान का उल्लेख है। चुनार अभिलेख व्यक्तिगत दखल की भूमि के निजी हस्तान्तरण तथा कृषि भूमि का छोटे टुकड़ों के दान में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भूमि दान का एक प्रकार है अग्रहार। प्राचीन काल में राजा मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को भूमिदान देता, जो अग्रहार भूमि कहलाता था। इस प्रकार की भूमि से सम्बन्धित समस्त अधिकार दानग्राही व्यक्ति को मिल जाता था। वह भूमि उपजाऊ एवं बंजर दोनों प्रकार की हो सकती थी। इस प्रकार की भूमि को आप्रद, शासन, चतुर्वेयग्राम एवं ब्रह्मदेय, इत्यादि नामों से भी जाना जाता था। सबसे बड़ी बात थी कि इसे शासन की तरफ से जब्त नहीं किया जा सकता था।

प्राचीन नाट्य परंपरा और रंगशाला

भरत पाठक

सार्वभौम नगरी उज्जयिनी की सांस्कृतिक परम्परा पर्याप्त समृद्ध रही है। उसने कई सुप्रथित कवियों तथा नाटककारों को आकृष्ट किया है। महाकवि कालिदास को इस भूमि से सम्बद्ध माना जाता है, परंतु उनके किसी नाटक का यह वस्तु क्षेत्र नहीं रहा। हाँ, शाकुंतल के कुछ संस्करण अवश्य यह संकेत करते हैं कि उज्जैन के विक्रमादित्य की सभा में उसका सफल मंचन हुआ था। प्रयोग प्रधान होने से विद्वानों की दर्शक–परिषद् के संतोष के बिना किसी नाट्य–कृति को सफल नहीं माना जा सकता, चाहे उन दर्शकों में से कोई

किसी भी रुचि का हो, किसी भी रस का रसिया हो। क्योंकि विभिन्न रुचि के लोगों को भी बराबर रस दे, वही तो नाट्य है मालविकाग्निमित्र में कवि ने नाट्य तथा नृत्य से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सूत्र छोड़ दिये हैं जो उस कवि की मंच–कल्पना तथा उसके कलाबोध का परिचय देते हैं। उज्जैन कई सुप्रसिद्ध रूपकों का वस्तु केंद्र बना है। भास के तीन रूपक (प्रतिज्ञा यौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता तथा चारुदत्त)। शूद्रक के दो रूपक (मृच्छकटिक तथा पद्मप्राभृतक)। श्यामिलक का भाण (पादताडितक)। वीणावासवदत्ता, श्रीहर्ष की नाटिकाएँ (रत्नावली तथा प्रियदर्शिका) इत्यादि के साथ ही उदयन संबंधी समस्त रूपकों की वस्तु–रचना में उज्जयिनी का स्थान तथा महत्व कुछ कम नहीं है। परन्तु हमारे पास निश्चित प्रमाण नहीं है कि स्वयं उन रूपकों अथवा अन्य रूपकों के मंचीकरण का भी वह केन्द्र बना अथवा नहीं। कालिदास के समान भास अथवा बाणभट्ट की नाट्यमंडली ने यहाँ कुछ रूपक खेले हों अथवा शूद्रक ने अपनी कृतियों को यहाँ मंच पर प्रस्तुत किया हो, इन संभावनाओं की सप्रमाण पुष्टि नहीं की जा सकती, न उज्जयिनी की मंच–परंपरा के कोई बिन्दु ही उपलब्ध हैं। तथापि विकीर्ण संकेतों के आधार पर परंपरा के कुछ बिन्दुओं की परख करना अनुचित न होगा। यों तो भरत तथा उसकी परंपरा की परिधि से भारतीय रंग तथा उस पर खेला जानेवाला। नाट्य सामान्यतया अलग नहीं हुआ। परंतु मेधावी रूपककार उन बंधनों से शतांश में प्रतिबद्ध भी नहीं रहे। भास शूद्रक इत्यादि ने उन बंधनों को आंशिक रूप से अस्वीकार भी किया है।

भरत के अनुसार प्रेक्षागृह का आधा भाग दर्शकों के लिए सुरक्षित रहता था तथा आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए। उसमें भी आधा रंगपीठ कहलाता था जहाँ अभिनय होता था, तथा पिछला आधा भाग रंगशीर्ष कहलाता था जहाँ नटों का नेपथ्य विधान होता था। भरत के अनुसार नाट्य मंडप पर्वत की गुफा के आकार का दुमंजिला होना चाहिए जिसमें वातायन की कमी हो जिसमें ध्वनि निष्क्रमण के अभाव में अभिनेताओं की आवाज गंभीर हो जाये। उदयगिरि की रानीगुफा नाट्य मंडप जैसी ही बनी है। संभवतः वहाँ जनरुचि के लिए नाट्य–प्रबंध होता था। भरत के अनुसार इन प्रेक्षागृहों में दर्शकों के बैठने के लिए सीढीनुमा, भूमि से एक हाथ ऊँचे आसन बने रहते थे जो लकड़ी अथवा ईटो से निर्मित होते थे। इन स्थायी रंगमंचों की व्यवस्था प्रायः राजमहलों में अथवा गणिकाओं तथा रईसों के भवनों में भी होती थी। मंदिर के प्रांगण भी प्रायः प्रेक्षागृह का काम देते थे। महाकाल के मंदिर प्रांगण में गणिका के नृत्य का उल्लेख मेघदूत में है दशकुमारचरित (षष्ठ उच्छ्वास) से भी इसकी पुष्टि होती है। जनसाधारण तो अपने समाज के मनोविनोद के लिए खुले स्थानों पर ही किसी चाँतरे अथवा लकड़ी के तख्तों के मंच पर नाटक कर लेते थे। मंच से ही आज का माचा (पलंग) शब्द बना है और इस पर खेला जाने वाला खेल मालवे में आज भी माच कहलाता है।

भोज के समरांगणसूत्रधार के अनुसार राजप्रसाद में व्यायामगृह, नृत्य–संगीत–गृह, स्नानगृह, शय्यावास, प्रेक्षावेश्म, दर्पणगृह (प्रसाधनकक्ष) इत्यादि होने चाहिए। साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि नगर के दक्षिण में नट–नर्तक बसाने चाहिए। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि अग्निमित्र के राजप्रासाद में प्रेक्षागृह था जहाँ मालविका का नृत्य हुआ था। नाट्य तथा नृत्य के प्रारंभ की सूचना मृदंग–ध्वनि से ही हो जाती थी। मृच्छकटिक में वसंतसेना के भवन के चौथे कक्ष का रंगशाला के रूप में वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ गायन, वादन तथा नर्तन के साथ ही श्रृंगार नाटकों का भी पाठ होता था। यहाँ इन विभिन्न कलाओं की गणिका – बालाओं को शिक्षा दी जाती थी। अभिनय में दक्ष, विशेष शिक्षित तथ्थ बेहिचक होने से

अभिनय प्रायः गणिकाएँ करती थीं। स्वयं वसंतसेना विभिन्न कलाओं में पारंगत होने से अभिनय में भी बेजोड़ थी। इसीलिए मृच्छकटिक के प्रथम अंक में वसंतसेना को खोजते हुए शकार के साथ विट कहता है कि यह रंगमंच की कलाओं में निष्णात होने से स्वर परिवर्तन कर हमें धोखा दे सकती है। महर्षि पतंजलि विदिशा तथा उज्जैन के मध्य गोनर्द में रहते थे अतः उनके संकेत भी मालवा की नाट्य–परंपरा में विशेष सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उन्होंने कंसवध तथा बलिबंधन के प्रत्यक्ष अभिनय का संकेत करते हुए बताया है कि कंसानुयायी शोभनिक अभिनेता काले रंग से मुँह पोतते थे तथा कृष्णानुयायी लाल रंग से। ये रंग क्रमशः राक्षस तथा देवता के भेदक थे।

पतंजलि कहते हैं कि व्यंजन नटभार्या के समान होते हैं। रंगमंच पर जाने पर नट स्त्री से जो कोई नट पूछता है कि तुम किसकी हो वह उसे ही कह देती है, तेरी। तात्पर्य यह है कि अभिनेत्री को यथावसर आचार्य के आदेश। पर समय–समय पर भिन्न–भिन्न अभिनेताओं के साथ उनकी पत्नी के रूप में अभिनय करना पड़ता था, जो स्वाभाविक है। ऐसा ही एक अभिनेत्री का उल्लेख शूद्रक ने पद्मप्राभृतक नामक भाग में किया है। उज्जैन की सुंदरी गणिका देवदत्ता की बहन देवसेना के पास उज्जैन के नाट्याचार्य गंधर्वदत्त अपने शिष्य नटीपुत्र दर्दुरक के हाथ, कुमुद्वती प्रकरण में कुमुद्वती की भूमिका निभाने हेतु कुमुद्वती की भूमिका की नकल पहुँचाते है। देवसेना पत्र लेकर कुमुद्वती को प्रणाम करती है, क्योंकि उसे उसी की भूमिका निभाना है। यह उस युग में अभिनय का शिष्टाचार था। देवगणिका अप्सरा उर्वशी भी कालिदास के विक्रमोर्वशीय के अनुसार, देवसभा में लक्ष्मी की भूमिका निभाते समय तनिक चूक पर आचार्य भरत की कोपभाजन बनती है। ये गणिकाएँ नृत्य की बारी के अनुसार आचार्य के घर नृत्य करने जाती थीं। देवदत्ता भी जाती है। वररुचि के उभयाभिसारिका से ज्ञात होता है कि पटना के राजभवन में पुरंदरविजय संगीतक के रसानूरूप अभिनय के लिए देवदत्ता के साथ अन्य गणिका को भी बयाना मिला था। अर्थात् अभिनेत्रियाँ तथा अभिनेता तो पहले से निश्चित कर लिये जाते थे ताकि वे निश्चत समय पर उपलब्ध रह सकें। इस अभिनय के बदले उन्हें धन भी मिलता था। उज्जैन के संदर्भ में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। परंतु इतना तो निश्चित है कि कुमुद्वती प्रकरण यहाँ खेला गया होगा एवं चतुर्भाणी के युग में यहाँ नाट्य मंडलियाँ रही होंगी।

कामसूत्र के अनुसार बाहर से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उसका पारिश्रमिक दूसरे दिन लें। यदि लोग देखना चाहें तो पुनः देखें अन्यथा नटों को विदा कर दें। नगर के नटों तथा आगंतुक नटों को कष्ट तथा आनंद में परस्पर सहयोग करना चाहिए। स्पष्ट ही नट मंडलियाँ भ्रमण करती और नाटक दिखाती रहती थीं। वीणावासवदत्ता से ज्ञात होता है कि रूपक के पात्रों की भूमिका के लिए योग्य व्यक्तियों का चयन किया जाता था। किस पात्र को कब तक मंच पर रहकर कब हट जाना चाहिए, इसका सम्यक् पूर्व परीक्षण करने पर ही रूपक प्रदर्शित किया जाता था। ये नाट्य संगीतक भी कहलाते थे, क्योंकि प्राचीन नाट्य संगीत प्रधान होते थे। उनमें पद–पद पर श्लोक तथा गीतियाँ होती थीं गीत, वाद्य तथा नृत्य का नाट्य में समाहार रहता था। मालविका प्रेक्षागृह में गाती हुई नृत्य करती है। वसुदेव हिंदी में सूचिनाट्य का उल्लेख है जिसमें सुइयों से बचते हुए नृत्य किया जाता था। भोज की श्रृंगारमंजरी कथा में क्षुरिकानाट्य नाचने का उल्लेख है। जिसे जगद्विलक्षण बताया गया है जिसमें बहुत कम नर्तकियाँ पारंगत होती थीं।

पादताडितक से ज्ञात होता है कि उज्जैन में वैश्याध्यक्ष प्रतिहार दौणिलक के घर प्रेक्षा में नर्तकी मयूरसेना के गीत सहित नृत्य प्रारंभ करते ही प्रयोग दोष बताये गये परन्तु विदर्भ के तलवर हरिशूद्र ने मयूरसेना का पक्ष लेकर उसका हृदय जीत लिया। प्राश्निक निर्णायक ने भी इसका ही पक्ष लिया। सारी गणिकाओं के समक्ष मयूरसेना का सम्मान बढ़ गया। ऐसे आयोजनों में प्राश्निक रहते थे जो विवाद के अवसर पर निर्णय देते थे। मालविका के नृत्य में गुण–दोष में निर्णय के लिये परिव्राजिका कौशिकी निर्णायिका ही थी। ऐसे आयोजनों में कलाविद प्रतिष्ठित जनों तथा मित्रों को आमंत्रित किया जाता था। हरिशूद ऐसा ही आमंत्रित सदस्य था। नृत्य अथवा अभिनय के निर्दोष एवं आकर्षक होने पर रसिक दर्शक दाद देने से भी नहीं चूकते थे। (दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास) स्त्रियोचित लास्य नृत्य में अभ्यस्त पुरुष लासक कहलाते थे। बाणभट्ट के मित्रों में एक लासक युवक था। पादताडितक में भी लासक उपचंद्रक का उल्लेख है।

इन नाट्यों की संगीत के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। प्रस्तुति को अवसर पर मृदंग का अनवरन उपयोग होता था। मालविकाग्निमित्र का कहना है कि नृत्य के प्रारंभ की सूचना मृदंग की ध्वनि दे देगी। पद्मप्राभृतक में आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि बिना मृदंग के नाटक का अंक पूरा हो गया। उसी प्रकार पादताडितक में भी अचरज व्यक्त किया गया है कि बिना वीणा मृदंग के एक नट नाटक (भाण) समाप्त हो गया। आज तक उज्जैन के माच की मृदंग या मादल ढोल के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। नाट्य अथवा नृत्य के प्रारंभ में वाद्यों पर देव–प्रार्थना अथवा मंगलगान होता था। (पादताडितक, श्लोक 97 के बाद)। उज्जैन के ही मदिरालय में एक यौधेय (हरियानवी) विट वाष्प एक हाथ में चषक ले झाँझ–मजीरे की धुन पर कूल्हे मटकाता–नाचता नट–नटी और चेटों के बीच जा घुसता है। पादताडितक में धावकि का उल्लेख है। इस भाग में आये वररुचि, वैद्य हरिचंद्र इत्यादि नाम विद्वानों में सुप्रथित हैं। अतः उपर्युक्त तथ्य यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि रूपक में व्यक्त नाम काल्पनिक होने से उसमें तथ्य खोजना अनुचित होगा। सातवीं शादी के पूर्वार्ध में उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने नाट्यवार्तिक की रचना और रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द नाटकों की रचना की थी। प्रधानत मुज के युग से अवती का काव्य गौरव फिर बढ़ चला।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता और ज्योतिष

जयकिशोर शास्त्री

वराहमिहिर वैज्ञानिक होने के साथ–साथ परम्परावादी और भाग्यवादी तथा फलित ज्योतिष के समर्थक भी थे। उन्होंने बृहत्संहिता की रचना की जिसके टीकाकार भटोत्पल के अनुसार खगोलवेत्ता वराहमिहिर का जन्म करीब 4851 ई. में मगध के द्विज परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम आदित्यदास और माता का नाम सत्यवती या इंदुमती था। बंगाल के प्रसिद्ध

ज्योतिष विद्वान की खन्ना नामक पुत्री से वराहमिहिर का विवाह हुआ था। खन्ना का भाई पृथुयशा भी ज्योतिषवेत्ता था। अपने पिता के साथ वराहमिहिर ने आर्यभट्ट के ग्रन्थों का मगध में अध्ययन किया था। अपने पिता के साथ वराहमिहिर जीविका के लिए उज्जैन पहुँचे। वहाँ राजा विक्रमादित्य के दरबार में वह रहने लगे। उन्होंने करीब 20 वर्ष की आयु अर्थात् 505 ई. में सर्वप्रथम पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ की रचना की। ज्योतिषग्रन्थ वृहज्जातक (होराशास्त्र) की रचना 540 ई. और 560 ई. के लगभग बृहत्संहिता की रचना की। इस समय वह 70–75 वर्ष का हो चुका था। उसका देहान्त करीब 567 ई. में हुआ। वराहमिहिर का श्रेष्ठतम ग्रन्थ पंचसिद्धान्तिका है, जिसमें उसने पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सूर्य और पितामह सिद्धान्त की चर्चा की है।

यहाँ हम पंचसिद्धान्तिका के तेरहवें अध्याय 'त्रैलोक्य संस्थान' की चर्चा करेंगे जो शायद वराहमिहिर की स्वतंत्र रचना लगती है अन्यथा वराहमिहिर हमें एक मौलिक ज्योतिषी के स्थान पर ज्योतिष के इतिहासकार अधिक प्रतीत होते हैं। इस अध्याय में वराहमिहिर ने विश्व की रचना तथा कुछ फुटकर बातें बताई हैं। इसके पहले ही श्लोक में पृथ्वी के बारे में कहा है कि पंचभूत से निर्मित पृथ्वी गोल तारों के पंजर में उसी प्रकार स्थित है जैसे चुम्बकों के बीच लोहा। लेकिन वराहमिहिर पृथ्वी के अक्ष भ्रमण के बारे में विपरीत राय रखता था। उनके अनुसार, कुछ लोग कहते हैं कि पृथ्वी भ्रमण करती है, परन्तु ऐसा होता तो चील तथा अन्य पक्षी आकाश से अपने घोसले में नहीं लौट सकते। उन्होंने चन्द्र कलाओं के बारे में लिखा है कि जैसे–जैसे प्रतिदिन चन्द्रमा का स्थान सूर्य के सापेक्ष बदलता है, वैसे–वैसे उसका प्रकाशमय भाग बढ़ता जाता है। ठीक इसी तरह जैसे अपरान्ह में घड़े का पश्चिम भाग अधिकाधिक प्रकाशित होता जाता है। वराहमिहिर ने दो सूर्य व दो चन्द्रमा के मत की आलोचना की। पंचसिद्धान्तिका में ज्योतिष यंत्रों का भी उल्लेख हुआ है। लेकिन उसने यह भी कहा कि गुरु को चाहिए कि केवल स्थिर बुद्धि शिष्यों को ये बातें बताए और शिष्य को चाहिए कि इन बातों को सीखकर अपने यंत्रों को इस प्रकार बनाए कि उसके पुत्र को भी उसका भेद ज्ञान न हो। पंचसिद्धान्तिका के बाद वराहमिहिर फलित ज्योतिष की ओर आकर्षित हुआ। ऐसा उसकी बृहत्संहिता से ज्ञात होता है, जो फलित ज्योतिष पर एक विशालग्रन्थ है। उसके अन्य ग्रन्थ है–वृहज्जातक, लघुजातक और योग यात्रा। आर्यभट्ट वैज्ञानिक ज्योतिष पर सुदृढ़ रहे। उन्होंने बताया कि सूर्यग्रहण का कारण सूर्य और पृथ्वी के बीच चन्द्रमा का आ जाना है। सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी के आने से चन्द्रग्रहण होता था। इसमें पृथ्वी की छाया चन्द्रमा पर पड़ती थी। वराहमिहिर फलित ज्योतिष समर्थकों के दबाव के सामने कुछ झुके तो सही किन्तु वैज्ञानिक स्थितियों का विश्लेषण उन्होंने बिना किसी रियायत के विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से किया किन्तु यह भी कहा कि कुछ लोग हैं जो राहु–सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। विनम्रता से

खंडन करने के बावजूद वराहमिहिर ने फलित ज्योतिष के क्षेत्र में योगदान किया।

मानव–मन भविष्य ज्ञान के लिए अति उत्सुक रहता है। अति प्राचीनकाल से लोगों द्वारा भविष्य की जानकारी के लिए बहुत से साधनों का आश्रय लिया जाता था। सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों की जो स्थिति जन्म के समय जैसी होती उसी के आधार पर जो भविष्यवाणी की जाती वही फलित ज्योतिष का विषय है। इसे दैवज्ञ विद्या भी कहते हैं। वराहमिहिर ने लिखा जो वन में रहते है, सांसारिक विषय–भोगों से रहित और बिना सम्पत्ति के हैं वे भी नक्षत्रों की गति के जानकार ज्योतिषी से प्रश्न पूछते हैं। बिना ज्योतिषी के राजा उसी प्रकार अंधे के समान मार्ग में अवस्थित है, जैसेकि बिना दीप के रात्रि तथा बिना सूर्य के नभः–सातवीं सदी से ज्योतिषियों ने एक सुविधाजनक सिद्धान्त यह निकाला कि दुष्ट ग्रह का शमन किया जा सकता और हानिकर फल दूर किए जा सकते है, या रत्नों या धातुओं आदि के व्यवहार से दोष का शमन हो सकता है। रत्नमाला और बृहत्संहिता में बताया गया कि मंगल एवं सूर्य को प्रसन्न करने के लिए मूंगा, शुक्र एवं चन्द्र के लिए चाँदी, बुध के लिए। सोना, वृहस्पति के लिए मोती, शनि के लिए लौह तथा अन्य दो (राहु एवं केतु) के लिए लाजवर्त धारण करना चाहिए।

वराहमिहिर योगयात्म में लिखा है– सूर्य अंग (बिहार) में उत्पन्न हुआ, चन्द्र यवनों के देश में, मंगल अवन्ती में, बुध मगध में, बृहस्पति सिन्धु में, शुक्र भोजकट में, शनि सौराष्ट्र में, केतु म्लेच्छों के देश में एवं राहु कलिंग में। यदि ये ग्रह प्रभावित होते हैं तो अपनी उत्पत्ति के देशों में कष्ट ढहाते हैं। सूर्य का रंग लाल, चन्द्र का श्वेत, मंगल का अति लाल, बुध का हरा, बृहस्पति का पीला, शुक्र का चितकबरा और शनि का रंग काला बताया गया। बृहज्जातक के अनुसार चन्द्र, मंगल एवं शनि निशा प्रबल (रात्रि में शक्तिशाली), सूर्य, बृहस्पति एवं शुक्र दिवाप्रबल हैं तथा बुध रात्रि एवं दिन दोनों में प्रबल हैं। वृहज्जातक में सूर्य का मित्र चन्द्र, मंगल और बृहस्पति, चन्द्र का मित्र सूर्य एवं बुध, मंगल का मित्र सूर्य, चन्द्र एवं बृहस्पति, बुध का मित्र सूर्य एवं शुक्र, वृहस्पति का मित्र सूर्य, चन्द्र एवं मंगल, शुक्र का मित्र बुध और शुक्र बताया गया है। कोई ग्रह अपने स्थान में तभी बलवान होता है जब वह अपने घर में हो, या उच्च हो या अपने मित्र के घर में या अपने त्रिकोण या नवांश में हो। वराहमिहिर द्वारा रचित वृहज्जातक में राशियों का आकार इस प्रकार बताया गया–मीन दो मछलियों के रूप में कुम्भ एक पुरुष के समान जो अपने कंधे पर खाली घड़ा लिए है। मिथुन एक पुरुष के रूप में जो हाथ में गदा एवं वीणा लिए एक नारी के साथ है। करीब 20 वर्ष की आयु अर्थात् 505 ई. में। धनु उस पुरुष के समान व्यक्त है जिसके हाथ में धनुष है और जिसके पैर घोड़े के पैर के समान हैः मकर का रूप घड़ियाल के समान है, जिसका मुख मृग का है। तुला पुरुष के समान है जिसके एक हाथ में अनाज की बाली एवं दूसरे में अग्नि है। वामनपुराण के अनुसार, मेष, वृषभ, कर्कट, सिंह, वृश्चिक, मकर एवं मौन पशुओं (चौपायों या कीट–पतंगों) की आकृतियाँ और शेष 5 मानव आकृतियों द्वारा विशिष्ट बातों के साथ द्योतित हैं। चीन में 12 राशियाँ चूहा, बैल, व्याघ्र, खरगोश, नाग (अग्नि फेंकता साँप) सर्प, अश्व, भेड़, बन्दर, मुर्गी कुत्ता एवं सुअर हैं। इसमें शक की गुंजाइश नहीं कि राशियों के नामकरण में कल्पनात्मक विचार एवं मनमाने ढंगों का सहारा लिया गया। मेष एव मिथुन, जो पुरुष एवं नारी दोनों हैं, को पुलिंग (पुरुष) बताया गया और वृषभ तथा वृश्चिक को स्त्री–ऐसा क्यों? इसका ठोस जवाब न देकर यही कहा जा सकता है कि राशियों को दो भागों में विभाजित करना था और अनुरूपता के लिए किसी को पुरुष और किसी को स्त्री कह दिया गया। इसीलिए समरूपता के क्रम में मेरा एवं कर्क को तथा सिंह एवं वृश्चिक को स्थिर कहा गया। सूर्य (सभी क प्रकाश देनेवाले एवं विश्व के आश्रय), मंगल एवं शनि को क्रूर या पाप (दुष्ट) ग्रह कहा गया। बृहस्पति एवं शुक्र को शुभंकर एवं क्षयशील तथा चन्द्र को अशुभकर कहा गया। बृहस्पति तथा शुक्र दोनों चमकदार एवं श्वेत है किन्तु मंगल लाल (रक्त के रंग का) है।

आधुनिक ज्योतिशास्त्र के अनुसा चन्द्र शुष्क है और उसमें ज्वालामुखियों के अवशेष मात्र हैं, तथापि ज्योतिषिय के अनुसार वह स्त्रीलिंग है। संस्कृत में चन्द्र को शशांक कहा गया है। सिद्धान्त रूप से शुभ ग्रह शुक्र सूर्य का शत्रु किन्तु दूसरा शुभग्रह वृहस्पति उसका (सूर्य) मित्र है–ऐसा क्यों? इतना ही नहीं, ये सम्बन्ध पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित नहीं हैं। चन्द्र का कोई शत्रु नहीं है, किन्तु शुक्र के दृष्टिकोण से शुक्र चन्द्र का शत्रु है। बुध (जो पौराणिक रूप से चन्द्र का पुत्र है) चन्द्र का मित्र है, किन्तु बुध के दृष्टिकोण के आधार पर चन्द्र उसक शत्रु है। एक और आश्चर्यजनक विषय यह है कि मनुष्य के समान ग्रह भी (मात्र सूर्य एवं चन्द्रमा को छोड़कर) आपस में युद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त मंगल एवं बृहस्पति के बीच बहुत से छोटे–छोटे ग्रह हैं किन्तु प्राचीन जन्म–पत्रों में यूरेनिस, नेपचून, प्लूटो एवं बृहस्पति के कतिपय उपग्रहों की चर्चा ही नहीं हुई है। आज के जमाने में ज्योतिष एवं ज्योतिषियों पर ध्यान दें तो पाते हैं कि प्रायः धनाढ्य लोग इसमें ज्यादा विश्वास रखते हैं। शहर में रहनेवाले ही ज्यादातर लोग ज्योतिषी के रहस्यमय झोले से अपने मतलब की चीज पा लेन को उत्सुक रहते हैं। गरीब, अशिक्षित और गाँवों तथा कस्बों के अधिकांश लोग ज्योतिष में विश्वास कम और जादू–टोना यानी तंत्र–मंत्र में विश्वास ज्यादा करते हैं। सातवीं शताब्दी के बाद पाल–चोल राजवंशों के जमाने से बहुमूल्य रत्नजटित अंगुठी पहनी जाने लगी। जिसका उद्देश्य था– नाराज ग्रहों को शान्त किया जा सके, तथा पहले से एकत्रित वैभव एवं धन बर्बाद न हो जाए। सातवीं सदी से पूर्व क्रोधित ग्रहों को शान्त करने ब्राह्मणों से कई प्रकार के धार्मिक अनुष्ठा कराए जाते थे किन्तु सातवीं सदी के बाद विशेषकर शहरों में और धनाढ्यों द्वारा विरोधी ग्रहों को अनुकूल बनाने के लिए रत्न धारण किए जाने लगे।

सभ्यता को सुदृढ़ करने वाले शिल्पकार

एकनाथ कानिटकर

मानव का दिल, दिमाग, हाथ, उत्साह, सोच, सकारात्मक भाव और वैज्ञानिक दृष्टि के मिश्रण से शिल्प तैयार होता है। इसी शिल्य विद्या से मानव ने संसार का निर्माण किया। वैदिककालीन वर्णव्यवस्था के परिसर से शिल्पकार को बाहर रखा गया इसके बावजूद इसे किसी परिचय विशेष का मोहताज नहीं होना पड़ा। सिन्धु नगरीय व्यवस्था ही अपने–आपमें शिल्पविद्या का ज्वलन्त उदाहरण और शिल्पकारों के योगदान का ऐतिहासिक प्रमाण रहा है। ऐसी बात शिल्पकारी को नजरअन्दाज काक नहीं सोची जा सकती है। शिल्पकारी घूमन्तर नहीं बल्कि विज्ञान का एक प्रधान अंग है। एक पुस्तक की रचना दिमागी बात है किन्तु हाथ की शिल्पकारी बगैर क्या किताब लिखा पाता? आराम की घड़ी में भी शिल्पकार का दिमाग आविष्कारी सोच में व्यस्त रहता है। मन के भावों को अक्षरों में बाँध रखने को लिखना कहते और शिल्प का भाव इस क्रिया में भी निहित है।

व्यापार की तरक्की, रोजमर्रा के कामों में रुपये–पैसों का चलन और शहरों का जन्म इन ऐतिहासिक घटनाओं ने शिल्पकार–कृषक वर्ग के पैरों में पड़ी जंजीर को खोलने का उपाय कर दिया। परम्परावादी बन्धन अपने ही आप बहुत ढीले हो गए। माना जाने लगा कि आजाद लोग अच्छी और सख्त मेहनत करते हैं। शिल्पकार को कारीगर या शिल्पी कहते हैं। दस्तकारी के माध्यम से वह अपने हुनर को प्रस्तुत करता है। अपने काम में उसे क्षमता प्राप्त रहती है। कारीगरी का काम करके वह जीवन–यापन करता है। वस्तु–निर्माण पद्धति का परिपक्व ज्ञान वर्षों परिश्रम करके वह प्रायः अपने पिता, गुरु या अभिभावक से सीखता है। शिल्प विद्या को शिल्प विज्ञान कहना अनुचित नहीं होगा। संस्कृति एवं सभ्यता के उदय एवं विकास की बुनियाद तत्कालीन कारीगरों की दक्षता पर आधारित रहा है। वैदिक सामाजिक वर्ग विभाजन में शिल्पकारों को कहीं कोई स्थान नहीं मिला। जबकि वैदिककालीन इतिहास की कड़ी को सुदृढ़ करने में इनकी भूमिका अतिसराहनीय रही।

ई.पू. छठी शताब्दी के दौरान ये इतिहास की मुख्यधारा के अंग मुश्किल से बन पाए। प्राक् इतिहासकाल को इतिहासकाल में लाना शिल्पकारों के बगैर सम्भव नहीं था। पुरातत्वविदों ने अन्धविश्वास और अप्रामाणिक बातों के बीच से इतिहास को बाहर निकालकर उसका जो अमर रूप तैयार किया उसको देखने से पता चलता है कि इतिहास का यह अमर रूप शिल्पकारों के परिश्रम का परिणाम था। शिल्पविद्या को शिल्पकारों ने उपकरणों के माध्यम से रहस्यमय जाल से मुक्त कराया। प्राक् इतिहासकाल को इतिहास काल में परिवर्तित करने में शिल्पकार अग्रणीय रहें। पुरातत्ववेत्ताओं के प्रयास से सिन्धु नगरों से जो पुरातात्विक सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे तत्कालीन कारीगरों एवं शिल्पकारों के योगदान को समझा जा सकता है। ऋग्वैदिककाल में शिल्पकारों की भूमिका मन्द रहने से समाज प्रायः घुमन्तू रहा। उत्तर वैदिककाल में आर्थिक दशा में नवीन बदलाव आए। कृषि से सम्बद्ध नवीन उपकरण शिल्पकारों ने अपनी वैज्ञानिक क्षमता के बल पर तैयार किया। इसके परिणामस्वरूप स्थायी जीवन एवं अतिरेक का अनुकूल माहौल। बना। शिल्पकारी में विस्तार हुआ। श्रम विभाजन की गति तेज हुई। यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में रथ बनानेवाले, बढ़ई, कुम्हार, राजमिस्त्री, जौहरी, बीज बोनेवाला, वाण बनानेवाला, धनुष बनानेवाला, धनुष की तान्त बनानेवाला, रस्सी बनानेवाला, मृगों को पहचानने वाला, कुत्तों को पहचानने वाला, महुआ, बाँस चीरने वाली स्त्री, काँटों से काम करनेवाली स्त्री, कढ़ाई का काम करनेवाली, वैद्य, ज्योतिर्विद, पीलवान अर्थात् हाथियों का रक्षक कोचवान अथवा घोड़ों का रक्षक, ग्वाल, भेड़ों का पालक (गडरिया), बकरी पालनेवाला, खेती का काम करनेवाला (किसान), सुरा बनानेवाला, द्वारपाल, द्वारपाल का अनुचर, लकड़हारा आग जलानेवाला, अभिषेक करनेवाला नक्काशी अथवा कढ़ाई करनेवाला मिस्त्री आदि शिल्पकारों की चर्चा है।

बौद्धकालीन स्रोतों में शिल्पकारी विद्या पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस काल के दौरान शिल्पकारों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति क्रान्तिकारी रूप में बेहतर हुई। वैदिक वर्णव्यवस्था को ध्वस्त करके नवीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा को बेहतर बनाने में जैन एवं बौद्धधर्म को जो सफलता मिली उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रेय इसी वर्ग का रहा। एक शिल्पकार के रूप में स्वर्णकारों द्वारा किए जानेवाले भिन्न–भिन्न क्रियाकलापों पर विस्तृत चर्चा की गई। दीघनिकाय में 25 प्रकार के शिल्पकारों का वर्णन है। जातक में 18 प्रकार के शिल्पकार संघ की चर्चा है। शिल्पकारों द्वारा निर्मित अति सुन्दर एवं अति आकर्षक वस्तुओं के कारण ही देश में एवं अन्य देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध कायम हुए। विनिमय में सिक्कों का प्रयोग शिल्पकारों के कारण प्रारम्भ हुआ। शिल्पकारों की सामाजिक, आर्थिक दशा तथा भारतीय इतिहास में उनके योगदान की जानकारी के लिए अष्टाध्यायी (पाणिनि) एक महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत है। मौर्यकालीन अर्थशास्त्र में सोनार, रजतकार, ताम्रकार, कास्यकार, लोहार कुम्हार आदि शिल्पकारों की वैज्ञानिक एवं तकनीकी कार्यों की काफी प्रशंसा की गई है। इस काल में लोहार बुद्ध के भिन्न–भिन्न औजार बनाने में कुशल थे। प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा बताते हैं कि यद्यपि शिल्पकार शूद्र की स्थिति में ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा पहुँचा दिए गए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि इनसे लोग घृणा करते थे, यहाँ तक कि चमड़े के काम के प्रति भी घृष्णा के प्रमाण नहीं मिलते।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

सार्थवाह प्राचीन भारत की पथ-पद्धति

सार्थवाह पथ–पद्धति प्राचीन भारत में उपयोगी थी, जो पश्चिमी भारत के राज्यों में व्यापक रूप से विकसित हुई थी। यह एक प्रकार की सड़क यानी मार्ग–पथ–पद्धति थी जो रथ और बड़े गाड़ियों के लिए उपयोगी थी। सार्थवाह शब्द संस्कृत शब्द है और 'सह–रथ' का अर्थ होता है, जो दो या अधिक रथों के साथ यात्रा करने की क्षमता को दर्शाता है। भारतीय संस्कृति, कला, इतिहास, भाषा, साहित्य के प्रमुख विद्वान। डॉ .मोतीचन्द्र की पुस्तक 'सार्थवाह' प्राचीन भारतीय पथ पद्धति के संबंध में एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें उन्होंने भारतीय प्रणाली का विस्तार से उल्लेख किया है।

वाराणसी में जन्मे (1901–1976) और पद्मभूषण से सम्मानित डॉ. मोतीचन्द्र ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और लन्दन विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की थी। आप तीन दशक तक प्रिंस वेल्स संग्रहालय, बम्बई के अध्यक्ष भी रहे। इस पुस्तक में वे कहते हैं कि संस्कृति के विकास में भूगोल का एक विशेष महत्व है। देश की भौतिक अवस्थाएँ और बदलती बहवा मनुष्य के जीवन पर तो असर डालती ही है, साथ ही साथ उनका प्रभाव मनुष्य के आचरण और विचार पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए रेगिस्तान में, जहाँ मनुष्य को प्रकृति के साथ निरन्तर लड़ाई करनी पड़ती है, उसमें एक रूखे स्वभाव और लूटपाट की भारत पैदा होती है, जो उष्ण कटिबन्ध में रहनेवालों की मुलायम श्रादतों से सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि उष्ण कटिबन्ध में रहने वालों की जरूरतें प्रकृति आसानी से पूरा कर देती है और इसलिए उनके स्वभाव में कर्कशता नहीं होती। देश की पथ–पद्धति भी उसकी भौतिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होती है।

पहाड़ों और रेगिस्तानों से होकर जाने वाला रास्ता कठिन होता है, पर वही रास्ता नदी की घाटियों और खुले मैदानों से होकर सरल बन जाता है। देश की पथ–पद्धति के विकास में कितना समय लगा होगा, इसका कोई अन्दाजा नहीं कर सकता। इसके विकास में तो अनेक युग लगे होंगे और हजारों जातियों ने इसमें भाग लिया होगा। आदिम फिरन्दरों ने अपने ढोर–ढंगरों के चारे के फिराक में घूमते हुए रास्तों की जानकारी क्रमशः बढ़ाई होगी। पर उन के भी पहले, शिकार की तलाश में घूमते हुए शिकारियों ने ऐसे रास्तों का पता चला लिया होगा, जो बाद में चलकर राजमार्ग बन गये। खोज का यह क्रम अनेक युगों तक चलता रहा और इस तरह देश में पथ–पद्धति का एक जाल–सा बिछ गया। इन रास्ता बनाने वालों का स्मरण वैदिक साहित्य में बराबर किया गया है। अग्नि को पथकृत् इसीलिए कहा गया है कि उसने घनघोर जंगलों को जलाकर ऐसे रास्ते बनाये, जिनपर से होकर वैदिक सभ्यता आगे बढ़ी।

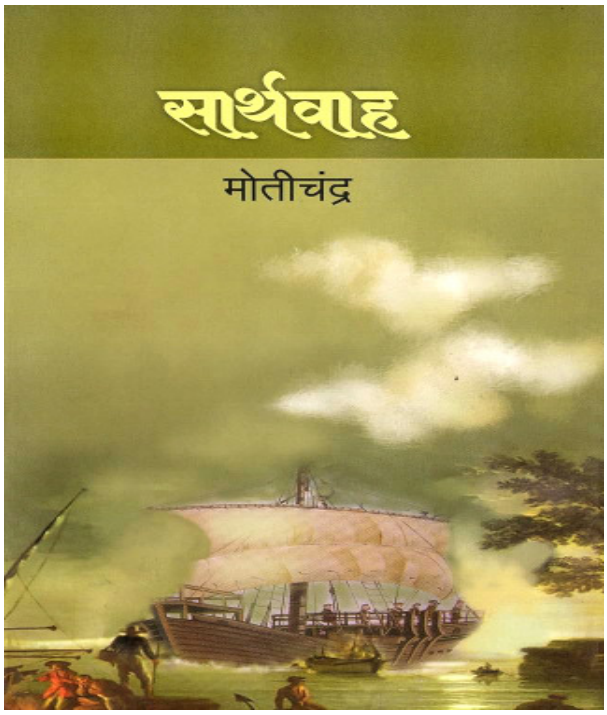

यात्रा के सुख और दुःख प्राचीन युग में बहुत कुछ सड़कों की भौगोलिक स्थिति और उनकी सुरक्षा पर अवलम्बित थे। जब हम उन प्राचीन सड़कों की कल्पना करते हैं, जिनका हमारे विजेता, राजे–महाराजे, तीर्थयात्री और घुमक्कड़ समान रूप से व्यवहार करते थे, तब हमें आधुनिक पक्की सड़कों को, जिनके दोनों ओर लहलहाते खेत, गाँव, कस्बे और शहर हैं, भूल जाना होगा। प्राचीन भारत में कुछ बड़े शहर अवश्य थे पर देश की अधिक बस्ती गाँवों में रहती थी और देश का अधिक भाग जंगलों से ढका था, जिनमें से होकर सड़कें निकलती थीं। इन सड़कों पर अक्सर जंगली जानवरों का डर बना रहता था, लुटेरे यात्रियों की ताक में लगे रहते थे और रास्ते में सीधा सामान न मिलने से यात्रियों को स्वयं अन्न का प्रबंध करके चलना पड़ता था। इन सड़कों पर अकेले यात्रा करना खतरे से भरा होता था और इसीलिए साथ चलते थे, जिनकी सुव्यवस्था के कारण यात्री आराम से यात्रा कर सकते थे। सार्थ के साथ होने पर भी अनेक बार व्यापारी दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते थे। पर, इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी यात्रा कभी नहीं रुकती थी। ये यात्री केवल व्यापारी ही न होकर भारतीय संस्कृति के प्रसारक थे। उत्तर के महापथ से होकर इस देश के व्यापारी मध्य एशिया और सिरिया तक पहुँचते थे और वहाँ के व्यापारी इसी सड़क से होकर इस देश में आते थे।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com